तैत्तिरीयोपनिषद् में अन्नरूप ब्रह्मोपासनाके महत्त्व का समीक्षण

[1]डॉ0 सरस्वती कुमारी
[1]शोध–छात्रा
[1]संस्कृत विभाग
[1]ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, कामेश्वरनगर, दरभंगा

सारांश : जितने भी मनुष्य, देवता, पशु आदि शरीर धारी प्राणी हैंय वे सब प्राण के आधार पर ही जीवित हैं। प्राण के बिना किसी के शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं हैं। प्राण के बिना शरीर कोई भी चेष्टा नहीं कर सकता है। प्राण ही सबका जीवन है, सबकी वायु है। प्राण केवल परिच्छिन्न रूप से अन्नमय कोश से ही आत्मवान नहीं है। प्रत्युत् मनुष्यादि जीव उसके अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण पिण्ड में व्याप्त प्राणमय कोश से भी आत्मवान हैं। सबकी आयु होने के कारण प्राण को सर्वायुष कहा जाता है क्योंकि प्राण–प्रयाण के अन्नतर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध ही है। अतः जो लोग इस वाह्य असाधारण व्यावृत रूप से अर्थात् बाँटे हुये अन्नमय कोश से आत्म बुद्धि को हटाकर इसके अन्तर्वर्ती (सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्रर्याप्त) प्राणमय कोश अर्थात् प्राण की ब्रा रूप से उपासना अनुगत अर्थात् व्याप्त) प्राणमय कोश अर्थात् प्राण की करते हैं वे इस लोक में पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। अर्थात पारव्य वश प्राप्त हुई आयु से पूर्व अपमृत्यु से नहीं मरते।

IndexTerms - अन्नमय, ब्रह्मोपासना, मनुष्य, चैतन्य, सूक्ष्म।

भृगुवल्ली में मोक्ष प्राप्ति का मुख्य साधन पंचकोश, विवेक दिखाने के लिये वरुण एवं भृगु ऋषि का आख्यान प्रस्तुत किया गया है। आत्मतत्व का जिज्ञासु भृगु अपने पिता वरुण के पास जाता है और उनसे प्रश्न करता है कि जिससे यह सब भूत उत्पन्न हुये हैं, जिससे उत्पन्न रहकर जीवित रहते है और अन्त में उसमें लीन हो जाते हैं, उस तत्व का मुझे उपदेश करें। इस पर वरुण ने अन्न, प्राण, चक्षु, मन, श्रोत एवं वाणी ये ब्रह्मोपलब्धि के छरू मार्ग वतलाकार तप करने का आदेश दिया और कहा तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। भृगु ने जाकर मन समाधान रूप किया और इन सब में अन्न को ही ब्रह्म जाना। किन्तु संदेह होने पर फिर वरुण के पास गया और वही प्रश्न फिर किया। वरुण ने फिर वहीं आदेश दिया। इस प्रकार पुनः पुनः संदेह होने पर और वरण वही आदेश देने पर अन्त म भृगु ने आनन्द को ही ब्रहा निश्चित किया।

भगर्दै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रहोति। तस्मात् एतत्प्रोवाच। अन्नं पाणं चक्षुः श्रोत्रां मनो वाचामिति। तरहोवाच। यतो बा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तत्त्वा।।।।

यह प्रसिद्ध है कि वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता, वरुण के पास गया और विनयपूर्वक बोला–भगवान मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिये। इस प्रकार प्रार्थना करने पर उससे वरुण ने कहा ष्अन, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी ये सब ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार है। पुनः वरुण ने उससे कहा निश्चय ही ये सब प्रत्यक्ष दिखने वाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते है, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्त में इस लोक से प्रयाण करते हुये जिसमें प्रवेश करते हैं, उसकों तत्व से जानने की इच्छा कर वही ब्रह्म हैं। इस प्रकार पिता की बात को सुनकर उसने तप किया और उसने तप करके। भृगु नाम के ऋषि जो वरुण के पुत्र थे। उनके मन में ब्रह्म को जानने की उत्कट अभिलाषा जाग्रत हुई। उसके वशीभूत होकर वे अपने ही पिता जो वेदज्ञ, ब्रह्म निष्ठ एवं महापुरुष थे। उनके पास गये और उनको अपनी बदा प्राप्ति की अभिलाषा से अवगत कराके उनसे प्रार्थना की कि ष्भगवान आप कपा करके मुझे ब्रह्म का तत्व विषयक उपदेश करेंष् भृगु की व्याकलता प्रसन्न हुये और उसने कहा कि ष्शात प्राण, नत्रश्रीत्र, ये ब्रहा की प्राप्ति का तार है। रानबहा कि नदज सुटित हो रही है। अनाचा मार का भातर माणको चापागाइलामा विषयों की उपलब्धि के साधन शूत, न, श्रोत, नीर वाया गेम उपलब्धि में द्वाररूप हैं।

उक्त प्रकार भूत अन्नादि को द्वार बताकर श्वण को बहाना क्षण बताते हुये बोले कि षजिससे ब्रहा से लेकर स्वाब (बायो प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रय से जन्म लोने के अवता जीवित रहा, प्राण धारण करते अर्थात् वृद्धि को प्राप्त होते हैं, और पाहाप्रलय के समय जिसमें विलीन हो जाते हैं। अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय काल में प्राणी जिसकी तद्रूपता का त्याग नहीं करते यही उस ब्रह्मा का लक्षण हैं। इन्हीं को पाने की इच्छाकर वे ही ब्रह्मा हैं।

भृगु ने अपने ब्रह्मनिष्ठ पिता से ब्रह्मा की उपलब्धि द्वार और ब्रह्म का लक्षण सुनकर सोचा कि ब्रह्म–साक्षात्कार के प्रति किसी अन्य साधन की भी उपेक्षा हैं। अतरू सबसे बड़ा साधन होने के कारण भृगु ने तप को ही विशेष रूप से ग्रहण किया। क्योंकि जिनके साध्य विषय नियत हैं। उन साधनों में तय ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त करने वाला साधन है। अतः पिता के आदेश न देने पर भी भृगु ने ब्रह्म विज्ञान के साधन रूप से तप को स्वीकार किया। वह तप वाह्य इन्द्रियों और अन्तरूकरण को समाहित करना ही हैं। मन और इन्द्रियों की एकाग्रता ही परम तप हैं और ब्रह्मा प्राप्ति उसी के द्वारा होने वाली है।

प्राणादि बहा विचार

प्राणो ब्रहोति व्यजनात्। प्राणादव खाल्वगानि भूतानि जारी प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरतुपससार। अधीहि भगवो ब्रहोति। तश्होवाच। तपसा ब्रा विजिज्ञासस्व। तपो ब्रहोति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तत्त्वा।

प्राण ब्रह्म है, इस प्रकार जानाय क्योंकि सचमुच प्राण से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर प्राण से ही जीते हैं और अन्त में यहाँ से प्रयाण करते हुये प्राण में ही सब प्रकार से प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उसे जानकर कर वह पिता वरुण के ही पास गया और वहाँ उसने अपना निश्चय सुनाया। जब पिता ने उत्तर नहीं दिया, तब वह बोला भगवान मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिये। इस प्रकार प्रार्थना करने पर सुप्रसिद्ध वरुण ऋषि ने उससे कहा ष्ब्रह्म को तप से स्वतः जानने की इच्छा कर।ष तप ही ब्रह्म अर्थात् उसको जानने का, प्राप्त करने का बड़ा साधन है। इस प्रकार की आज्ञा पाकर उसने पुनः तप किया। उसने तप करके क्या किया

भृगु ने अपने पिता के आदेशानुसार पुनः तप किया और अनुभव किया कि ब्रह्म के लक्षण प्राण में पूर्णतया पाये जाते हैं, क्योंकि एक प्राणवान जीवित । प्राणी से ही, उसी के सदृश्य दूसरा प्राणी उत्पन्न होता तथा सभी प्राण रहने तक जीवित रहते हैं। क्योंकि प्राण द्वारा ही अन्न ग्रहण किया जाता है और उसके निकल जाने पर वह मृत हो जाता है। अतः निक शरीर वद्धि को प्राप्त होता है, जीवित रहता है। प्राण के शरीर से वह मत हो जाता है। अतः निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म हैं। इस प्रकार निश्चय करके भृगु पुनः अपने पिता के पास गया और अपना अनुभव बताया। अबकी बार भी बरुण ऋषि सन्तान देखा कि भृगु यद्यपि कुछ सूक्ष्मता में पहुँचा है, पर यथार्थ जानना शेष है। अतरू जनपन की ब्रह्म विषयक जिज्ञासा को और बलवती बनाने के उद्देश्य से रि शान्त रहे। इस पर भृगु ने सोचा कि कदाचित् अभी भी वह वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाया है। अतः वरुण ऋषि से ब्रह्म के तत्व का उपदेश देने का पुनः आग्रह किया। इस बार भी वरुण ऋषि ने अपने पूर्वोक्त आदेश को फिर दोहराया। अतः भृगु फिर तपस्या रत हो गये।

जितने भी मनुष्य, देवता, पशु आदि शरीर धारी प्राणी हैंय वे सब प्राण के आधार पर ही जीवित हैं। प्राण के बिना किसी के शरीर का कोई अस्तित्व ही नहीं हैं। प्राण के बिना शरीर कोई भी चेष्टा नहीं कर सकता है। प्राण ही सबका जीवन है, सबकी वायु है। प्राण केवल परिच्छिन्न रूप से अन्नमय कोश से ही आत्मवान नहीं है। प्रत्युत् मनुष्यादि जीव उसके अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण पिण्ड में व्याप्त प्राणमय कोश से भी आत्मवान हैं। सबकी आयु होने के कारण प्राण को ष्सर्वायुषश्श कहा जाता है क्योंकि प्राण–प्रयाण के अन्नतर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध ही है।

अतः जो लोग इस वाह्य असाधारण व्यावृत रूप से अर्थात् बाँटे हुये अन्नमय कोश से आत्म बुद्धि को हटाकर इसके अन्तर्वर्ती (सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्रर्याप्त) प्राणमय कोश अर्थात् प्राण की ब्रा रूप से उपासना अनुगत अर्थात् व्याप्त) प्राणमय कोश अर्थात् प्राण की करते हैं वे इस लोक में पूर्ण आयु को प्राप्त होते हैं। अर्थात पारव्य वश प्राप्त हुई आयु से पूर्व अपमृत्यु से नहीं मरते।

प्रश्नोपनिषद् के तीसरे प्रश्न के ग्यारहवें मंत्र में भी कहा गया है कि ष्जो मनुष्य इस प्राण के तत्व को जान लेता है, वह स्वयं अमर हो जाता है और उसकी प्रजा नष्ट नहीं होतीष जो सर्वात्मा परमेश्वर अन्न से रस से बने हुए स्थूल शरीरधारी पुरुष का अन्तरात्मा है वही उस प्राणमय पुरुष का भी शरीरान्तवर्ती अन्तर्यामी आत्मा है।

प्राण शक्ति एवं सामर्थ्य का प्रतीक है। मानव शरीर के बीच जो अन्तर – पाया जाता है, वह बहुत साधारण है। परन्तु मनुष्य की सामाजिक शक्ति के –बीच जो जमीन– आसमान का अन्तर पाया जाता है, उसका कारण उसकी = आन्तरिक शक्ति है। विद्या, चतुराई, अनुभव, दूरदर्शिता, साहस, लगन, शौर्य, जीवनीशक्ति, – ओज, पुष्टि, पराक्रम, पुरुषार्थ, महानता आदि नामों से इस आन्तरिक शक्ति का – परिचय मिलता है। आध्यात्मिक भाषा में इसे प्राणशक्ति कहते हैं। प्राण नेत्रों में होकर चमकता है, चेहरे पर बिखरता करता है, हाव– भाव कृ में उसकी तरंगें बहती हैं। प्राण की गन्ध में एक ऐसी विलक्षण मोहकता होती है, जो दूसरों को विभोर कर देती है।

प्राण वाणी में घुला रहता है, उसे सुनकर सुनने वालों की मानसिक दीवारें हिल जाती हैं। मौत के दाँत उखाड़ने के लिए जान हथेली पर रखकर जब मनुष्य चलता है, तो उसकी प्राणशक्ति ही ढाल– तलवार होती है। चारों और निरशाजनक घनघोर अन्धकार छाया होने पर भी प्राणशक्ति आशा की प्रकाश रेखा बनकर चमकती है। बालू में तेल निकालने की, मरुभूमि में उपवन लगाने की, असम्भव को सम्भव बनाने की, राई को पर्वत करने की सामर्थ्य केवल प्राणवान् में ही होती है। जिसमें स्वल्प प्राण हैं, उसे जीवित मृतक कहा जाता है। शरीर से हाथी के समान स्थूल होने पर भी उसे पराधीन, परमुखांपेक्षी ही रहना पड़ता है। वह अपनी कठिनाइयों का दोष दूसरों पर थोपकर किसी प्रकार मन को सन्तोष देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा के लिए वह अपनी सामर्थ्य पर विश्वास नहीं करता।

प्राण द्वारा ही यह श्रद्धा, निष्ठा, दृढ़ता, एकाग्रता और भावना प्राप्त होती है, जो भव–बन्धनों को काटकर आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। मुक्ति को परम पुरुषार्थ माना गया है। संसार के अन्य सुख–साधनों को प्राप्त करने के लिए जितने विवेक, प्रयत्न एवं पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है, मुक्ति के लिए उससे कम नहीं, वरन् अधिक की ही आवश्यकता है।

मुक्ति विजय का उपहार है, जिसे साहसी शूरवीर ही प्राप्त करते हैं। भगवान् अपनी ओर से न किसी को बन्धन देते हैं और न मुक्ति। दूसरा न कोई स्वर्ग में ले जा सकता है, न नरक में, हम स्वयं अपनी आन्तरिक स्थिति के आधार पर जिस दिशा में चलें, उसी लक्ष्य पर जा पहुँचते हैं।

प्राण नामक सूक्ष्म शक्ति स्थूल प्राण अपान समान उदान और व्यान नामक अचवाय और उसके विकार भाग कूर्म, कृकल देवदत्त और प्रश्नों का संचालक है वह अति सूक्ष्म शक्ति मात्र है। प्राण शब्दगत सब स्थूल वायुओं का संचालक है वह अति सहा शब्द गतिशीलता का वाचक है। प्र, अप, अन प्राण ने इस धातु के अनुसार अन शब्द गतिशीलता का वाचन उत, आ, व़िआ इन उपसर्गों के तथा सम शब्द के लगाने से प्राण, अपान उदान व्यान और समान शब्द बनते है। प्राण अन् का प्रत्यक्ष नाम है। शंकराचार्य इसका भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि प्राण सब प्राकर कर चेष्टाओं में व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करने के तत्त्व है। प्र आदि उपसर्ग पर्व में रहने से उसको विशेषगति ही सिद्ध होती है।

यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? यह किस प्रकार शरीर में आता है? तथा किस प्रकार विभाग करके यह स्थित होता है?, किस कारण से शरीर को उत्क्रमण करता है, किस तरह बाह्य एवं आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है? । यह प्राण किससे किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है? इसका शरीर ग्रहण किस कारण से होता है? जिससे ये सम्पर्ण चराचर जीव नाना रूपों में उत्पन्न – होते हैं जो इसका सुनिश्चित कारण कौन है?

उपनिषदों में अनेक स्थलों पर प्राण शब्द का प्रयोग आत्मा के अभिधान रू में हुआ है। इसे विज्ञानमय पुरूष से अभिन्न समझा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के । अनुसार एक बार प्राण और इन्द्रियों में परस्पर विवाद हुआ कि हममें बड़ा कौन है? इस पर सब प्रजापति के पास गये। तब प्रजापति ने कहा कि तुममें से जिसके उत्क्रमण करने पर शरीर नष्ट हो जाय और पापियों जैसा प्रतीत होने लगे वही श्रेष्ठ है। . प्राणों में पाँच प्रकार के परोवरीय गृण विशिष्ट साम की उपासना करनी चाहिए। उनमें प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है। ये उपासनाएँ निश्चय ही परोवरीय (उत्तरात्तर) हैं। इसे पापों में पाँच प्रकार के उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर साम की उपासना जाननेवाला पुरूष प्राणों में पाँच प्रकार के उत्तरोत्तर करनेवाले होते हैं, और उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर लोकों को जीत लेता है। हृदय के जो पूर्वदिशावर्ती सुशि (छिद्र) है वह प्राण, चक्षु, आदित्य, तेज अन्नाद्य है जो इसकी उपासना करता है वह तेजस्वी और अन का भोक्ता होता है। उसका जो दक्षिण छिद्र है वह व्यान श्रोत्र चन्द्रमा है वही श्री एवं यश है जो उसकी उपासना करता है वह श्रीमान् और यशस्वी होता है। उसका जो उत्तरी छिद्र है। वह समान, मन, मेघ है वही कीर्ति एवं व्युष्टि (देह का लावण्य) है जो उसकी उपासना करता है वह कीर्तिमान और कान्तिमान होता है। उसका जो दक्षिण छिद्र है वह उदान वायु और आकाश है वही ओज और तेज है। वे ये पाँच ब्रह्मपुरूष स्वर्गलोक के द्वार पाल है। इन्हें जो कोई भी स्वर्गलोक का द्वारपाल जानता है। उसके कुल में वीर पुरूष का उत्पन्न होना शुभ माना जाता है। रू उत्कर्ष–अपकर्ष रूप निमित्त के कारण होनेवाले उस संग्राम में देवताओं ने उद्गीथ भक्ति से उपलक्षित उदगाता के कर्म का आहरण अनुष्ठान किया। जिस समय उन्होंने उस उद्गीथकर्म का अनुष्ठान करना चाहा उस समय असुरों ने उसे पाप से, विरूद्ध कर दिया। इसी से सुगंध और दुर्गध दोनों को सुँघता है। . क्योंकि वह पाप से बन्धा हुआ हैं। प्रकृत अर्थ का परित्याग और अप्रकृत अर्थ का ग्रहण नहीं करना पड़ता, क्योंकि श्खल्वैतस्यैवाक्षरस्यश इस श्रुतिवचन के अनसार यहाँ ओंकार का प्रकरण है। उदगीथ कर्म में उसका कर्ता जो प्राण – देवता है उसी की दृष्टि से उदगीथ अवयवभूत ओंकार उपस्यरूप से विवक्षित है– स्वतन्त्र ओंकार नहीं। उसी के लिये उदगाता के अनुष्ठान किया।

ततपुरूप नासिका स्थित प्राणदेवता को स्वभाव से ही। उस उदगाता ज्योतिःस्परूप नासिका स्थित प्राणटे के तमोमय असुरों ने अधर्म और आशक्तिरूप अपने और आशक्तिरूप अपने पाप से भेद मिय उससे संयुक्त कर दिया। नासिका स्थित प्राण देवता है उसमें पुण्य गन्ध को । ग्रहण करने के अभिमान और आशक्ति दोष आ जाने से उसके विवेक और विज्ञान का अभाव हो गया। क्योंकि प्राण असुर पाप से विद्ध है इसलिये श्पाप से प्रेरित हुआ वह प्राणियों का घ्राणसंज्ञक प्राण दुर्गध को ग्रहण करनेवाला है उससे द्रवात्मक एवं पुरोडाशात्मक दोनों हवियाँ दूषित हो जाता है।

उन्होंने वाणी, चक्षु, श्रोत्र और मन को भी असुरों ने उस सबको पाप से वेध दिये उसके द्वारा संकल्प करने योग्य और न संकल्प करने योग्य दोनों का ही संकल्प करते हैं। प्राण के समीप पहुँचकर उदगीथ की उपासना की। उस प्राण के समीप पहुँचकर असुरगण इस प्रकार विध्वंस हो गये कि जिस प्रकार मिट्टी के ढेला पाषाण के पास पहुँचकर नष्ट हो जाता है उसी

अन्नरूप ब्रह्मोपासना के महत्त्व समीक्षण

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधहि भगवो ब्रह्मेति त होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत।स तपस्तप्त्वा।

अत्र बह्म हइस प्रकार जाना क्योंकि सचमुच अन्न से ही जीते है और अन्त में यहाँ से प्रयाण उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होकर अन्न से ही जीने के करते हुये अन्न में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उसको जानकर पुनः अपने पिता वरुण के पास गया तथा अपनी समझी हुई बात उसने पिता को सुनायी, किन्तु उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। तब वह बोले भगवान मुझे ब्रह्म को थ्ना बोध कराइये। तब उसने

सुप्रसिद्ध वरुण ऋषि ने कहा तप से ब्रह्म को स्वतः जानने की इच्छा करें, तप ही ब्रह्म हैं। इस प्रकार पिता की आज्ञा पाकर उसने – पुनः तप किया। उसने तप करके।। अपने पिता के आदेशानुसार तप करके उसने पाया कि पिता जी ने जो भी ब्रह्म के लक्षण बताये थे, वह सब अन्न में हैं, क्योंकि अन्न के परिणाम भूत वीर्य के समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उससे ही जीवित रहते है और मरने के बाद अन्न स्वरूप पृथ्वी में प्रविष्टा हो जाते हैं। यह सब जानने के बाद भी वह संशयग्रस्त ही पिता के पास पहुँचा और उसने निश्चय के अनुसार सब बात बताई। पर वरुण ऋषि से अपने पुत्र की वास्तविकता छिपी नहीं रही। उन्होंने १. जान लिया कि भृगु को अभी तो ब्रह्म के केवल स्थूल रूप को ही जाना है। – उसका तत्वतः जानना बाकी हैं। पर वरुण ने कोई टिप्पणी नहीं की। वे केवल ' शान्त रहे। भृगु को भी अपनी कमी का बोध हो गया था, क्योंकि उसने सोचा कि जब श्अन्न ब्रह्म हैं। इस बात में यह स्वयं ही पूर्णरूप से आश्वस्त नहीं है। – इसका मतलब है कि वह अपने वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाया है। अत. इसका उपदेश देने के लिये निवेदन किया। उसने अपने पिता वरुण से पुनः ब्रह्म का उपदेश देने के लिये निबदा का ही स्वरूप है। तप उनका बोध कराने में बहा के तत्व को समझाने की कोशिश कर। तब वरुण ने कहा कि तप ब्रह्म का ही स्वरूप समर्थ है। अतरू तू तप के द्वारा ब्रा के तत्व को स करते हुये में ही पविष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उसको जानकर पुनरू अपने पिता वरुण के पास गया तथा अपनी समझी हुई बात उसने पिता को सुनायो, किन्तु उन्होंने उसका समर्थन नहीं किया। तब वह बोले भगवान मुझे ब्रह्मा को बोध कराइये। तब उसने सुप्रसिद्ध वरुण ऋषि ने कहा तप से ब्रहा को स्वतः जानने की इच्छा करें, तप ही ब्रा हैं। इस प्रकार पिता की आज्ञा पाकर उसने पुनः तप किया। उसने तप करके अपने पिता के आदेशानुसार तप करके उसने पाया कि पिता जी ने जो भी ब्रह्म के लक्षण बताये थे, वह सब अब में हैं, क्योंकि अन्न के परिणाम भूत वीर्य के समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उससे ही जीवित रहते है और मरने के बाद अन्न स्वरूप पृथ्वी में प्रविष्टा हो जाते हैं। यह सब जानने के बाद भी वह संशयग्रस्त ही पिता के पास पहुँचा और उसने निश्चय के अनुसार सब बात. बताई। पर वरुण ऋषि से अपने पुत्र की वास्तविकता छिपी नहीं रही। उन्होंने जान लिया कि भृगु को अभी तो ब्रह्म के केवल स्थूल रूप को ही जाना है। उसका तत्वतः जानना बाकी हैं। पर वरुण ने कोई टिप्पणी नहीं की। वे केवल शान्त रहे। भृगु को भी अपनी कमी का बोध हो गया था, क्योंकि उसने सोचा कि जब श्अन्न ब्रह्म हैं।श इस बात में यह स्वयं ही पूर्णरूप से आश्वस्त नहीं है। इसका मतलब है कि वह अपने वास्तविक लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाया है। अतरू उसने अपने पिता वरुण से पुनः ब्रह्म का उपदेश देने के लिये निवेदन किया। तब वरुण ने कहा कि तप ब्रह्म का ही स्वरूप है। तप उनका बोध समर्थ है। अतः तू तप के द्वारा ब्रह्म के तत्व को समझने की इस प्रकार पिता का आदेश पाकर भृगु पुनः पहले की भांति तपोमय जीवन बिताते हुये पिता के आदेशानुसार ब्रह्म का स्वरूप निश्चय करने में रत हो गये।

जो साधक अन्न की उपासना इस प्रकार करते हैं। अर्थात् उसको ज्येष्ठ (प्राणियों से पहले उत्पन्न होने के कारण) और सर्वश्रेष्ठ (इसी में उत्पन्न होने, इसी में विलीन होने के कारण) ब्रह्म रूप में उपासना करते हैं। उनको समस्त अन्न प्राप्त हो जाता है। उनको अन्न का अभाव नहीं रहता है। ६

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीररम न्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अ नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या ।

अन की निन्दा न करें, वह व्रत है। प्राण ही अन्न है। और शरीर उस प्राण रूप अन्न से जीने के कारण अन्न का भोक्ता है। शरीर प्राण स्थिर हो रहे हैं। इस तरह यह अन्न ही अन्न में स्थिर हो रहा है। जो इस रहस्य ' वह उसमें प्रतिष्ठित हो जाता है। अतः अन्न वाला और अन्न को खाने वाला निता नोज से सम्पन्न होकर महान बन जाता है। हो जाता है। प्रजा से, पशुओं से ब्रह्म तेज से सम्पन्न होकर तथा कीर्ति से सम्पन्न होकर भी महान बन जाता है।

इसके लिए मनुष्य को सर्वप्रथम तो यह व्रत लेना चाहिए कि कभी भी किसी भी परिस्थिति में अन्न का भक्षण करके ही प्राणों में बल पाता है। शरीर में जीवन शक्ति का संचार होता है। शरीर प्राण के आश्रय में स्थित हैं और प्राण शरीर आश्रय में अधिष्ठित है। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो भी साधक इस रहस्य हो जान लेता है। वह उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है। वह साधक अन्न, पाचन, शक्ति, प्रजा, ब्रह्मतेज तथा महान कीर्ति से सम्पन्न होकर । महान हो जाता है। उसकी कीर्ति उसका यश जगत में फैल जाता है।

अन्नं न परिचक्षीत्। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ।

अन्न की अवहेलना न करें, वह एक व्रत है। जल ही अन्न है और तेज (रस स्वरूप) अन्न का भोक्ता है। जल में तेज प्रतिष्ठित है। तेज में जल निष्ठित है. वही वह अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस प्रकार अन्न प्रतिष्ठित है– इस रहस्य को जान लेता है वह अन्त में – जान लेता है वह अन्त में उसी रहस्य में या अन्न को खाने वाला हो जाता है। वह प्रतिष्ठित हो जाता है तथा अन्न वाला तथा अन्न को खाने वाला, सन्तान से, पशुओं से और बहा तेज से महान बन जाता है तथा कीर्ति से समृद्ध होकर भी महान हो जाता है।

सर्वप्रथम यह व्रत लेना चाहिये कि किसी भी प्रकार से अन की अवहेलना नहीं करेंगे। अर्थात् अन्न का उलंघन, दुरुउपयोग एवं परित्याग नहीं करेंगे। इसके उपरान्त अन्न के तत्व को समझना चाहिए कि जल ही अन है और ज्योति अर्थात् तेज ही इस जल रूप को भक्षण करने वाला है। शरीर में रहने वाली जठराग्नि शरीर में जाने वाले जलीय तत्वों का शोषण करती है। जल से ज्योति प्रतिष्ठित है। इसी प्रकार तेज में जल स्थित है। क्योंकि सूर्य की प्रखर किरणों में स्थित जल ही वर्षा रूप में प्रत्यक्ष होता है। जल एवं तेज – अन्योन्याश्रित (एक दूसरे के आश्रित) होने के कारण समस्त अन्न रूप खाद्य पदार्थो के कारण है। अतः ये ही अनेक रूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित हैं। जो साधक उक्त रहस्य को जानता है। वह अन्न रूपी ब्रह्म में अधिष्ठित होता है। वह अन्नादि साधन, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु, ब्रह्म, तेज और कीर्ति से समृद्ध होकर महान हो जाता है। जल में ज्योति (तेजस) की अनुभूति सहज की जा सकती है। मोती या किसी चमकदार वस्तु की चमक (तेजस्विता) – घटती है तो कहा जाता हैं कि उसका पानी उतर गया या श्आबश कम हो गया। आज अरबी भाषा में पानी को ही कहते हैं। जो सम्भवतः संस्कत के का परिवर्ति रूप है।

अन्नं बहु कुर्वीत। तवतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्वा।

अन्न को बढ़ायें, वह एक व्रत है। पृथ्वी ही अन्न है। आकाश, पृथ्वी रूप अन्न का आधार होने से मानो अन्नाद हैं। पृथ्वी में आकाश प्रतिष्ठित है। आकाश में पृथ्वी प्रतिष्ठित है। वही यह अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस प्रकार अन्न में अन्न प्रतिष्ठित है, इस रहस्य को जानता है। वह उस विषय में प्रतिष्ठित रू हो जाता है। अन्न वाला और अन्नाद अर्थात अन्न को खाने वाला अर्थात् पचाने की शक्ति वाला हो जाता है। वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्म तेज से महान बन जाता है। कीर्ति से भी महान हो जाता है।। इस संदर्भ में कहते हैं कि जो मनुष्य अन्नादि से समृद्ध होना चाहता है, उसको सर्वप्रथम यह व्रत लेना चाहिए कि ष्मैं अन्न का खूब बढ़ाऊगाँश्श इसके बाद अन्न के उस तत्व को समझना चाहिए कि पृथ्वी ही अन्न है क्योंकि जितने न हैं वे सब पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं और पृथ्वी को अपने में विलीन सका आधार भूत आकाश ही अन्नाद अर्थात् अन्न का भोक्ता है। अतः वह पृथ्वी में स्थिर हैं और आकाश में पृथ्वी के आधार होने के कारण अन्न स्वरूप हैं। पाँच आकाश चूँकि सर्वव्यापी है। अतः वह पृथ्वी में स्थिर हैरू स्थिर है। ये दोनों ही एक दूसरे के आधार होने के कारण अन्न भूतों में आकाश पहला तत्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्व है। बीच के तीनों तत्व जल, वायु, अग्नि इन्हीं के अन्तर्गत है। समस्त भोग्य–पदार्थ अन्न इन पाँचों तत्वों के ही कार्य है। अतः ये ही अन्न के रूप में स्थित हैं। अतः अन्न ही अन्न में प्रविष्ट है।

जो विद्वान उक्त रहस्य को भलीभाँति जानता है। वह उसी अन्न रूप ब्रह्म में प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नादि पदार्थ, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु और ब्रह्म तेज और कीर्ति से समृद्ध होकर महान हो जाता हैं।

उपर्युक्त वर्णन में आकाश में पृथ्वी अधिष्ठित है, यह बात तो समझ में आती है। पर पृथ्वी में आकाश स्थित है, यह बात बड़ी अटपटी–सी लगती है। इसको समझने के लिये परमाणु संरचना समझना होगा। परमाणु के केन्द्र नाभिक में (न्यूक्लियस) और आस–पास इलेक्ट्रान घूमते हैं। न्यूक्लियस और इलेक्ट्रानों के बीच में उतना स्थान खाली होता है जितना सूर्य एवं पृथ्वी के बीच। वास्तव में यह बीच स्थान ही आकाश है। इस प्रकार हर ठोस पदार्थ में पर्याप्त आकाश होता है. अन्न का. सात्त्विक अर्थ है–पृथ्वी का रस। पृथ्वी से जल, अनाज, ल, सब्जी, घास आदि पैदा होते हैं। यह सब अन्न कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा रज, वीर्य बनते हैं और इन्हीं से इस शरीर का निर्माण होता है। अन्न द्वारा ही देह बढती है, पुष्ट होती है तथा अन्त में अन्नरूप पृथ्वी में ही भस्म होकर सह असे उत्पन्न होने वाला और उसी में जाने वाला यह गलकर मिल जाती है। अन्न से उत्पन्न होने वाला औ देह– प्रधानता के कारण श्अन्नमय कोशश कहा जाता है।

भूतों में आकाश पहला तत्व है और पृथ्वी अन्तिम तत्व है। बीच के तीनों तत्व जल, वायु, अग्नि इन्हीं के अन्तर्गत है। समस्त भोग्य–पदार्थ अन्न इन पाँचों तत्वों के ही कार्य है। अतः ये ही अन्न के रूप में स्थित हैं। अतः अन्न ही अन्न में प्रविष्ट है। जो विद्वान उक्त रहस्य को भलीभाँति जानता है। वह उसी अन रूप ब्रह्मा में प्रतिष्ठित होता है। वह अन्नादि पदार्थ, पाचन शक्ति, सन्तान, पशु और ब्रह्म तेज और कीर्ति से समृद्ध होकर महान हो जाता हैं।

उपर्युक्त वर्णन में आकाश में पृथ्वी अधिष्ठित है, यह बात तो समझ में आती है। पर पृथ्वी में आकाश स्थित है, यह बात बड़ी अटपटी–सी लगती है। इसको समझने के लिये परमाणु संरचना समझना होगा। परमाणु के केन्द्र नाभिक में (न्यूक्लियस) और आस–पास इलेक्ट्रान घूमते हैं। न्यूक्लियस और इलेक्ट्रानों के बीच में उतना स्थान खाली होता है जितना सूर्य एवं पृथ्वी के बीच। वास्तव में यह बीच स्थान ही आकाश है। इस प्रकार हर ठोस पदार्थ में पर्याप्त आकाश होता है। अन्न का. सात्त्विक अर्थ है–पृथ्वी का रस। पृथ्वी से जल, अनाज, ल, सब्जी, घास आदि पैदा होते हैं। यह सब अन्न कहे जाते हैं। इन्हीं के द्वारा रज, वीर्य वनते हैं और इन्हीं से इस शरीर का निर्माण होता है। अन्न द्वारा ही देह बढती है, पुष्ट होती है तथा अन्त में अन्नरूप पृथ्वी में ही भस्म होकर सड गलकर मिल जाती है। अत्र से उत्पन्न होने वाला और उसी में देह– प्रधानता के कारण श्अन्नमय कोशश कहा जाता है।

यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि हाड़– मांस का जो यह पुतला दिखाई देता है, वह अन्नमय कोश की अधीनता में है, पर उसे ही अन्नमय कोश न समझ लेना चाहिए। मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है, पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता। वह जीव के साथ रहता है। बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग– नरक में उन भूख– प्यास, सर्दी– गर्मी, चोट, दर्द आदि को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उसे उन इन्द्रिय भोगों – की चाह रहती है जो शरीर द्वारा भोगे जाने सम्भव हैं। भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार– विहार की रहती हैं, जैसी शरीरधारी मनुष्यों की होती हैं। इससे प्रकट है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक, कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो – है, पर उससे पृथक् भी है। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है।

चिकित्सा पद्धतियों की पहुँच स्थूल शरीर तक ही है, इसलिए वह केवल उन्हीं रोगों को दूर कर पाते हैं जो कि हाड़– मांस, त्वचा आदि के विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु कितने ही रोग ऐसे भी हैं जो अन्नमय कोश की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हें शारीरिक चिकित्सक लोग ठीक करने में प्रायः असमर्थ ही रहते हैं।

अन्नमय कोश की स्थिति के अनुसार शरीर का ढाँचा और रंग रूप बनता है। उसी के अनुसार इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं। बालक जन्म से ही कितनी ही शारीरिक त्रुटियाँ, अपूर्णताएँ या विशेषताएँ लेकर आता है। किसी की देव आरम्भ से ही मोटी, किसी की जन्म से ही पतली होती है। आँखों, दी पतली होती है। आँखों की दृष्टि, अँटा या तीव्र होना, किसी विशेष अंग का वाणी की विशेषता, मस्तिष्क का भौंड़ा या तीव्र होना पर ना अन्नमय कोश की स्थिति के अनुरूप होता है। माता निर्बल या न्यून होना अन्नमय कोश की स्थिति के परा रहताहै। यहाँ एक बात ध्यान रखने की है कि हाड़– मांस का जो यह पुतला दिखाई देता है, वह अन्नमय कोश की अधीनता में है, पर उसे ही अन्नमय कोश न समझ लेना चाहिए। मृत्यु हो जाने पर देह तो नष्ट हो जाती है, पर अन्नमय कोश नष्ट नहीं होता। वह जीव के साथ रहता है। बिना शरीर के भी जीव भूतयोनि में या स्वर्ग– नरक में उन भूख– प्यास, सर्दी– गर्मी, चोट, दर्द आदि ष को सहता है जो स्थूल शरीर से सम्बन्धित हैं। इसी प्रकार उसे उन इन्द्रिय भोगों की चाह रहती है जो शरीर द्वारा भोगे जाने सम्भव हैं। भूतों की इच्छाएँ वैसी ही आहार– विहार की रहती हैं, जैसी शरीरधारी मनुष्यों की होती हैं। इससे प्रकट =– है कि अन्नमय कोश शरीर का संचालक, कारण, उत्पादक, उपभोक्ता आदि तो है, पर उससे पृथक् भी है। इसे सूक्ष्म शरीर भी कहा जा सकता है। चिकित्सा पद्धतियों की पहुँच स्थूल शरीर तक ही है, इसलिए वह केवल उन्हीं रोगों को दूर कर पाते हैं जो कि हाड़– मांस, त्वचा आदि के विकारों के कारण उत्पन्न होते हैं। परन्तु कितने ही रोग ऐसे भी हैं जो अन्नमय कोश की विकृति के कारण उत्पन्न होते हैं, उन्हें शारीरिक चिकित्सक लोग ठीक करने में प्रायः असमर्थ ही रहते हैं।

अन्नमय कोश की स्थिति के अनुसार शरीर का ढाँचा और रंग रूप बनता है। उसी के अनुसार इन्द्रियों की शक्तियाँ होती हैं। बालक जन्म से ही कितनी ही शारीरिक त्रुटियाँ, अपूर्णताएँ या विशेषताएँ लेकर आता है। किसी किसी की जन्म से ही पतली होती है। आँखों की दलि आरम्भ से ही मोटी, किसी की जन्म से ही पतली का भौंडा या तीव्र होना, किसी विशेष अंग का वाणी की विशेषता, मस्तिष्क का भौंडा या तीव्र हो न के अनुरूप होता है। माता– पिता निर्बल या न्यून होना अन्नमय कोश की स्थिति के रज–वीर्य का भी उसमें थोड़ा प्रभाव होता है, पर विशेषता ही रहती है। कितने ही बालक माता– पिता की अपेक्षा अनेक बातों में बहत भिन्न पाए जाते हैं।

अन्न से बनता और बढ़ता है। अन्न के भीतर सूक्ष्म जीवन तत्त्व रहता है, वह अन्नमय कोश को बनाता है। जैसे शरीर में पांच अन्न में तीन कोश हैं–स्थूल, सूक्ष्म, कारण। स्थूल में स्वाद और भार सहन ने. प्रभाव और गुण तथा कारण के कोश में अन्न का संस्कार रहता है। जिवा से केवल भोजन का स्वाद मालूम होता है। पेट उसके बोझ का अनभव करता है। रस में उसकी मादकता, उष्णता आदि प्रकट होती है। अन्नमय कोश पर उसका संस्कार जमता है। मांस आदि अनेक अभक्ष्य पदार्थ ऐसे हैं जो जीभ को स्वादिष्ट लगते हैं, देह को मोटा बनाने में भी सहायक होते हैं, पर उनमें सूक्ष्म संस्कार ऐसा होता है, जो अन्नमय कोश को विकृत कर देता है और उसका परिणाम अदृश्य रूप से आकस्मिक रोगों के रूप में तथा जन्म–जन्मान्तर तक कुरूपता एवं शारीरिक अपूर्णता के रूप में चलता है। इसलिए आत्मविद्या के ज्ञाता सदा सात्त्विक, सुसंस्कारी अन्न पर जोर देते हैं ताकि स्थूल शरीर में । बीमारी, कुरूपता, अपूर्णता, आलस्य एवं कमजोरी की बढ़ोत्तरी न हो। जो लोग अभक्ष्य खाते हैं, वे अब नहीं तो भविष्य में ऐसी आन्तरिक विकृति से ग्रस्त हो जाएँगे जो उनको शारीरिक सुख से वञ्चित रखे रहेगी। इस प्रकार अनीति से . उपार्जित धन या पाप की कमाई प्रकट में आकर्षक लगने पर भी अन्नमय कोश को दूषित करती है और अन्त में शरीर को विकृत तथा चिररोगी बना देती है।

संदर्भ सूची

- तैत्तिरीयोपनिषद्, शंकरभाष्य सहिता, गीता प्रेस, गोरखपुर
- तैत्तिरीयोपनिषद्, शुक्ल चुन्नीलाल, साहित्य मण्डार समाप बाजार 1976
- तैत्तिरीयारण्यकम् डॉ0 जमुनापाटक, चौखम्ब संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 2014–
- उपनिषद् संग्रह, स्वामी महात्मा नारायण, जनज्ञान प्रकाशन, वेदन्दिर, नई दिल्ली, 1970
- उपनिषदों की वाणी, स्वामी रंगनाथानन्द, मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1979
- उपनिषद् फोर ऑल, देवी चित्रिता, एस चन्द एण्ड कं0 नई दिल्ली, 1973
- उपनिषद् (ब्रह्मविधा–खण्ड), तपेनिष्ठ वेदमूर्ति, आचार्य संस्कृति संस्थान, कुतुव वेदनगर बरेली, 1980
- मुण्डपकोपनिषद् (एक अध्याय), बन्धु मनुदेव, ईस्टर्न बुक लिंकसं. दिल्ली, 1990